बहिरात्मा पर को आप मानता है

देहादिउ जे पर कहिय, ते अप्पाणु मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण-भणिउ, पुणु संसारु भमेइ॥१०॥

देहादिक जो पर कहे, सो मानत निज रूप।
बहिरातम वे जिन कहें, भ्रमते बहु भवकूप॥

अन्वयार्थ – (देहादिउ जे पर कहिय) शरीर आदि जिनको आत्मा से भिन्न कहा गया है। **(ते अप्पाणु मुणेइ)** उन रूप ही अपने को मानता है। **(सो बहिरप्पा)** वह बहिरात्मा है। **(जिणभणिउ)** ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है **(पुणु संसार भमेइ)** कि वह बारम्बार संसार में भ्रमण करता रहता है।

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण ६, गुरुवार, दिनाङ्क ०९-०६-१९६६
गाथा १० से १२ प्रवचन नं. ४

यह योगसार, यह शास्त्र योगीन्द्रदेव कृत है। जो परमात्मप्रकाश बनाया है, उन्होंने यह बनाया है। दसवीं गाथा में बहिरात्मा की व्याख्या थोड़ी आयी है, साधारण आयी थी, अब विशेष विस्तार से कहते हैं। **बहिरात्मा पर को आप मानता है।**

देहादिउ जे पर कहिय, ते अप्पाणु मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण-भणिउ, पुणु संसारु भमेइ॥१०॥

यह श्लोक है। यह आत्मा अखण्ड आत्मा शुद्ध चैतन्य वस्तु अभेद पदार्थ है, उसे छोड़कर जो कुछ यह शरीर, घर, धन-धान्य, मकान, आबरू, कीर्ति, शरीर की क्रिया या अन्दर में पुण्य-पाप का भाव (होता है), वह सब मेरा है – ऐसा मानता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। जुगराजजी!

जो स्वरूप में नहीं... ज्ञान-आनन्द, वह आत्मा का त्रिकाली शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसमें नहीं ऐसे पुण्य-पाप के, शुभ-अशुभ के विकल्प अथवा चार गति, छह काय, लेश्या, कषाय आदि भाव, वह परभाव है; वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। इस देहादि परभाव में सब आ गया। शरीर से लेकर अन्दर राग की मन्दता के शुभभाव, ये सब आत्मा से बाह्य है। ठीक होगा? रतिभाई!

यह बाह्य जो है, **शरीर आदि जिनको आत्मा से भिन्न कहा गया है....** शास्त्र में अथवा वस्तुस्वरूप में आत्मा आनन्द, ज्ञायकस्वरूप अभेद है, उससे यह दया, दान, व्रत आदि के भाव या हिंसादि के भाव या कषाय या गति, ये सब आत्मा के स्वभाव से बाह्य -बाहिर-अन्तर स्वरूप में नहीं – ऐसे बाहिर कहे गये हैं। ऐसे बाह्य भाव को आत्मा माने, उसे यहाँ मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा मूढ़ कहा है। समझ में आया?

देहादिउ जे पर कहिया जिन्हें पर कहा है – ऐसा, फिर यहाँ शब्द है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दमूर्ति के अतिरिक्त (जितने भाव हैं, उन सबको परभाव कहा है)। यहाँ दो लाईनों में इतना डाला है। यह तो उसमें इन्होंने विस्तार किया है। कोई साधु-गृहस्थ का चारित्र पाले और उसे आत्मा का स्वभाव जाने तो वह साधु, श्रावक तो मिथ्यादृष्टि है। यह तो इनने शुभभाव की व्याख्या की है। समझ में आया? श्रावक या मुनि का जो शुभभाव व्यवहार है न? पंच महाव्रत के, बारह व्रत के विकल्प हैं, उनके छह प्रकार के – श्रावक के छह प्रकार के कर्तव्य हैं न? व्यवहार कर्तव्य है न? देवदर्शन, गुरुपूजा इत्यादि.... ऐसा जो आचरण है, व्यवहार से शुभराग है। ऐसे मुनि को भी पंच महाव्रत आदि का आचरण, वह राग – शुभराग है। वह आचरण मेरा है और उस आचरण से मुझे हित होता है – ऐसा माननेवाले की दृष्टि बाहिर है, मिथ्यादृष्टि है, उसकी बहिरात्मदृष्टि है, अन्तर्दृष्टि नहीं। समझ में आया?

तब (कोई कहता है) ज्ञानी को ऐसे भाव तो होते हैं? ऐसे भाव होने पर भी उन्हें अपना स्वरूप नहीं जानता, उनसे हित नहीं मानता – ऐसे श्रावक और मुनि के व्यवहार आचरण के जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार – ऐसे (आचार) आते हैं न? काल में पढ़ना इत्यादि नहीं आता? ऐ...ई...! प्रवचनसार में तो ऐसा कहते हैं,

तुम्हारे प्रताप से ऐसा होगा.... यहाँ कहते हैं कि ऐसे भाव से लाभ मानें तो उसे बहिरात्मा -मिथ्यादृष्टि कहा है। देखो, लिखा इसमें, ए...ई... ! वहाँ तो निमित्त का कथन किया है। प्रवचनसार में तो ऐसा भाव वहाँ होता है, उसका निमित्त का कथन किया है। ज्ञान में विनय से पढ़ना, काल में पढ़ना इत्यादि आठ बोल आते हैं न ? सम्यक्त्व के व्यवहार के आठ बोल आते हैं। चारित्र के आठ – पाँच समिति, तीन गुप्ति.... ऐसा देखकर चलना इत्यादि... तप के बारह प्रकार, ये सब विकल्पात्मक भाव हैं, राग हैं; यह मेरा स्वरूप है अथवा इससे मेरा कल्याण (है – ऐसा मानता है)। जिससे कल्याण माने, वह उसे स्वरूप माने, उसे साधन माने तो भी वह मिथ्यादृष्टि है – ऐसा यहाँ तो कहते हैं। वह साधन नहीं है; साधन, स्वभाव में साधन है। समझ में आया ?

जो अन्तर का आवश्यक – कर्तव्य है, स्वरूप में स्थिरता वह.... अन्य व्यवहार आवश्यक, उसे परमार्थ से आत्मा का स्वरूप जाने.... **देहादिउ जे पर कहिया** देखो। **देहादिउ जे पर कहिया** वे सब पर हैं। शुभविकल्प – वृत्ति उत्पन्न होती है, वे सब पर हैं, विकार हैं, विभाव हैं, सदोष हैं। आहा...हा... ! कहो समझ में आया ? ऐसे शुभ आचरण को (परभाव कहते हैं)। दूसरी भाषा, यहाँ तो अभी लक्ष्य में यह आया था। उदय का बोल है न ! भाई ! उदय के बोल, वह अभी लक्ष्य में आया था। इक्कीस बोल में कोई बोल जो है, वह आत्मा को माने तो बहिरबुद्धि – मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु – आत्मा का तत्त्व है, ऐसा लिखा है।

उत्तर – यह आत्मा का तत्त्व (कहा), वह तो एक समय की पर्याय का ज्ञान कराने को (कहा है)। एक समय की पर्याय में उसका ज्ञान कराने को... वस्तुदृष्टि की दृष्टि से वह बहिर्भाव है। समझ में आया ? ऐ... देवानुप्रिया ! ऐ... भोगीभाई !

देहादिउ जे पर कहिया यहाँ तो भगवान कहते हैं – ऐसा अपने सिद्ध करना है। योगीन्दुदेव ऐसा कहते हैं न कि देह, शरीर, वाणी, मन, कर्म, धन, धान्य, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र आदि यह सब भगवान आत्मा से भिन्न चीज है। एक ओर ली, यह तो अभी स्थूल बात थी। अब रही अन्दर में, यह बाह्य की बात हुई। अब अन्दर में जो कोई शुभपरिणाम उठते हैं, विभाव के आचरण, जिन्हें व्यवहार आचरणरूप से शास्त्र में कहा – ऐसा जो शुभ

आचरण – भाव उत्पन्न होता है, वह भी वास्तव में बहिर्भाव है, क्योंकि अन्तर स्वभाव में नहीं है और अन्तर स्वभाव में रहता नहीं है। समझ में आया? अन्तर स्वभाव में है नहीं और अन्तर स्वभाव में शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति भगवान आत्मा है, उसमें यह दया, दान, व्रतादि के परिणाम शुभविकल्प या ज्ञानाचार-दर्शनाचार के परिणाम वह विभाव है। वह ज्ञानानन्दस्वरूप में नहीं है तथा उस ज्ञानानन्द की पूर्ण प्राप्ति हो, तब वह रहते नहीं हैं; इसलिए उसकी चीज नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...!

देहादिउ जे ऐसा प्रयोग किया है न? भगवान एक ओर रह गया। एक समय में अखण्ड आनन्दकन्द अभेद चिदानन्द की मूर्ति, उसे आत्मारूप से जाने, तब तो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, वह तो जैसा जिसका स्वभाव, उस प्रकार उसका स्वीकार... और ऐसा आत्मा न मानकर, उस आत्मा से बाह्य चीजें जो विकल्पादि उत्पन्न होते हैं, जो उसमें नहीं है, उत्पन्न हों, फिर भी उसके स्वभाव में नहीं रहते और उसके स्वभाव को साधनरूप से मदद नहीं करते हैं। समझ में आया? आहा...हा...!

दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा – ऐसा विकल्प शुभ है, वह वास्तव में बहिर्भाव है, विभाव है। पंच महाव्रत के परिणाम – अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, यह भी एक विकल्प, विभाव है। यह उसका स्वरूप नहीं है। उस विभाव को स्वभाव माने या विभाव को स्वभाव का साधन माने या विभाव मेरी चीज में है ऐसा माने, (वह बहिरात्मा है)। समझ में आया? शान्तिभाई! क्या होगा यह? अद्भुत....! कहो, समझ में आया?

यह पुण्यपरिणाम और पुण्य का फल, शुभभाव इससे बँधा पुण्य, यह उसके फलरूप से तुम्हें यह हजार (रुपये) वेतन मिलता है, यह तीनों मुझे मिलते हैं – ऐसा मानना, वह मूढ़ है, ऐसा यहाँ कहते हैं। भाई! इसे शेयर मार्केट में एक हजार वेतन मिलता है। यह आया था, निवृत्ति लेकर आता है। यह तो पुण्य के परमाणु और पुण्य का भाव और उसके फल की बाहर की विचित्रता देखो, यह एकदम बढ़ा – ऐसा माननेवाला मूढ़ है। यह कहते हैं। रतिभाई! आहा...हा...! ऐ...ई...! लक्ष्मी और अधिकार बढ़ने से क्या बढ़ा? क्या परिवार या परिवार से.... यह बढ़ा तो तू बढ़ा? या गुमढ़ा बढ़ा। गुमढ़ा समझते हो? फोड़ा... फोड़ा.... होता है।

एक सेठ को था, अपने एक भाई थे न ? ब्यावर... ब्यावर है न ? नहीं थे एक सेठ ? हम आहार करने गये थे। मोतीलालजी, ब्यावर में मोतीलालजी सेठ थे न ? गृहस्थ व्यक्ति, खानदानी व्यक्ति, बड़े गृहस्थ परन्तु पूरे शरीर में सुपारी-सुपारी जितने (फोड़े) पूरे शरीर में इतनी-इतनी गाँठें, हाँ! ब्यावर में मोतीलाल सेठ थे। उनके यहाँ आहार करने गये थे। बड़े गृहस्थ, इज्जतदार। बड़े सेठ, बड़े व्यक्ति... शरीर देखो तो सर्वत्र इतनी -इतनी गाँठें निकली हुई, हाँ! सुपारी (जैसी) – ऐसे गृहस्थ थे। लाख दवायें कितनी करते होंगे ? धूल में भी कुछ नहीं हुआ, मरते तक शरीर ऐसा का ऐसा रहा, लो! यह मुझे हुआ – ऐसा मानना, बहिरात्मबुद्धि है – ऐसा कहते हैं। यह आत्मा में नहीं हुआ, यह तो जड़ की दशा में है।

इसी प्रकार जड़ की दशा में सुन्दरता, कोमलता, आकृति, नरमायी, इत्यादि जड़ की दशा में होने पर 'मुझे हुआ', 'यह मुझे हुआ, यह मैं हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं नरम हूँ, मैं सुन्दर हूँ – यह बुद्धि शरीरादि को, पर को अपना माननेवाले की बुद्धि है।' समझ में आया ?

शरीरादि.... आदि में सब डाला है, हाँ! **जिन्हें आत्मा से भिन्न कहा गया है।** भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने परमार्थस्वरूप अपना निज स्वभाव, सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञायकमूर्ति अखण्डानन्द ध्रुव, अनादि-अनन्त स्वभाव, उससे जितने बहिर्भाव हैं, उन्हें अपना माने, उनसे अपने को लाभ माने – ऐसा यह मेरा कर्तव्य है, ऐसा माने, लो! ऐसा कर्ता निकलता है या नहीं ? रामजीभाई का याद आया। समझ में आया ? जिन्हें – रागादि को जिसका कर्तव्य स्वीकार करे, उस कर्तव्य से भिन्न कैसे होगा ? कहो, रतिभाई! समझ में आया ? यह शुभभाव दया, दान, भक्ति, व्रतादि का शुभभाव मेरा कर्तव्य है और मैं वास्तव में उसका रचनेवाला हूँ – ऐसा जो मानता है, वैसे कर्तव्य को कैसे छोड़ेगा ? ऐसे कर्तव्य को माननेवाला बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहा...हा... !

मुमुक्षु – व्याख्या लम्बी बहुत हो गयी।

उत्तर – लम्बी हो गयी। मस्तिष्क में उदयभाव याद आ गया। यह तो थोड़े बोल हैं, बहुत बोल हैं उसमें, नहीं ? असिद्धत्वभाव, लो न! असिद्धभाव, यह पढ़ने से उदयभाव दिमाग में आ गया। उदयभाव कितना असिद्ध है ? चौदहवें गुणस्थान तक असिद्धभाव है।

यह सब असिद्धभाव, अपूर्णभाव, मलिनभाव, विपरीतभाव, खण्ड-खण्डभाव.... समझ में आया? उसे अपना स्वरूप माने, वह बहिरवस्तु है। भगवान अन्तर चिदानन्द की मूर्ति अखण्ड आनन्दकन्द ध्रुव चैतन्य है। उसे अपना स्वरूप न मानकर, जो उसमें से निकल जाता है, टिकता नहीं है.... टिकते तत्त्व के साथ जो टिकता नहीं है, उसे अपना माने उसे बहिरात्मा मूढ़ जीव कहते हैं। अद्भुत व्याख्या कठोर! ए... रतिभाई!

बहिर – ऐसा शब्द है न यहाँ तो? बहिर। **देहादिउ सो बहिरप्पा.... बहिरप्पा** बाहिर में आत्मा माननेवाला, ऐसा... भगवान आत्मा ज्ञायक की मूर्ति, चैतन्यसूर्य अनाकुल आनन्द का कन्द – ऐसा स्वतत्त्व स्वयंसिद्ध, उसे अपना न मानकर, उससे बाह्य के किसी भी विकल्प आचारादि के, व्यवहार आचार के, हाँ! व्यवहार क्रिया के, व्यवहार महाव्रत के.... समझ में आया? समकित का व्यवहार श्रद्धा के आठ विकल्प, ज्ञानाचार के, चारित्राचार के व्यवहार के यह सब विभाव मेरा स्वभाव है अथवा इस विभाव से मेरा हित होगा – ऐसा माननेवाला उस विभाव को ही बहिर, बहिर को ही आत्मा मानता है। है न?

देहादिउ जे पर कहिया ते अप्पाणु मुणेइ। उसे आत्मा जानता है। हम शब्दार्थ करते हैं। यह तो महासिद्धान्त है। आहा...हा...! समझ में आया?

देहादिउ जे पर कहिया एक स्व रह गया, इसके अतिरिक्त (बाकी सब) पर। **ते अप्पाणु मुणेइ।** उसे आत्मा माने अर्थात् उससे हित माने अर्थात् उस पुण्य-पाप के रागादि विभाव आचार को अपने स्वभाव का साधन माने तो स्वभाव और विकार दो एक माननेवाला, उसे ही आत्मा मानता है। **सो बहिरप्पा** उसकी दृष्टि ही चिदानन्द ज्ञायकभाव तरफ नहीं है, उसकी दृष्टि वहाँ आगे वह खण्ड-खण्ड आदि रागादिभाव या अल्पज्ञ आदि, उसमें जिसकी बुद्धि पड़ी है, वे सब (बहिरात्मा हैं)। उसमें कहा था न? पण्डित, भेदविज्ञानी पण्ड्या अर्थात् बुद्धिवाला – ऐसा कहा न? यहाँ अपण्ड्या लेना, ऐसा मेरा कहना है। है?

पुण्य-पाप का रागभाव, शरीरभाव, वाणी से भिन्न – ऐसा भेदज्ञान, ऐसा पर से भेदज्ञान, स्वभाव तरफ की एकता (जिसे हुई है), उसे पण्डित कहा है। उस जीव को अन्तरात्मा कहा है। उसने आत्मा है, वैसा जाना, माना कहा जाता है। उससे विरुद्ध

विकल्प रागादि को अपना स्वरूप माने, उसे अपण्ड्यो कहा है अर्थात् एकत्वबुद्धिवाला कहा है, इसलिए अपण्डयो कहा अर्थात् मूर्ख कहा है, बहिरात्मा कहा है। यह तो फिर उस पण्ड्या पर दिमाग गया कि पण्ड्या अर्थात् क्या होगा? उसमें लिखा है, पण्ड्या अर्थात् बुद्धि। भेदविज्ञान की बुद्धि और यह (अज्ञानी) अभेद (मानता है)। स्वरूप में राग और पुण्य भिन्न है, उन्हें एक माननेवाला, वह अपण्ड्या, मूर्ख और बहिरात्मा है। समझ में आया?

सो बहिरप्पा जिणभणिउ देखो! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में सेकेण्ड के असंख्य भाग में ज्ञान की ज्योत केवलज्ञानरूप से पूर्ण प्रगट हो गयी, चैतन्यसूर्य अन्दर पूर्ण सत्व पड़ा है। सर्वज्ञस्वभावी सत्व। आत्मा अर्थात् सर्वज्ञ-ज्ञ-स्वभावी, ज्ञ -स्वभावी, ज्ञ साथ में पूरा ज्ञ लो तो सर्वज्ञस्वभावी – ऐसा भगवान आत्मा, सर्वज्ञस्वभावी वस्तु आत्मा का अन्तर ध्यान करके जो सर्वज्ञस्वभाव जिसकी दशा में – अवस्था में प्रगट हो गया – ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर यह कहते हैं कि ऐसे सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के अतिरिक्त दूसरी चीज को अपने लाभ के लिये माने, हित के लिये माने अर्थात् अपनी माने, उसे बहिरात्मा कहा जाता है। कहो, इसमें समझ में आया या नहीं? ऐ... प्रवीणभाई! भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... ए... भगवान...! भगवान... भगवान... करे, यह विकल्प है, कहते हैं। इस विकल्प से आत्मा को लाभ माननेवाला बहिरात्मा है – ऐसा यहाँ कहते हैं, लो!

मुमुक्षु – आपने सब पक्का कराया।

उत्तर – पक्का करा लेना है, उसकी शैली प्रमाण बोले न! कहो, धीरुभाई! क्या है इसमें?

एक, दो वस्तु है। एक ओर भगवान पूर्णानन्द का नाथ परमात्मस्वरूप स्वयं परम स्वरूप है, आत्मा अर्थात् परमस्वरूप। शुद्ध ध्रुव चैतन्य भगवान परमस्वरूप आत्मा को अपना मानना, वह तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और धर्म दशा हुई। ऐसा इसने अनन्त काल से नहीं माना। ऐसे स्वभाव से विरुद्ध अल्पज्ञ अवस्था, अल्पदर्शी, अल्प वीर्य या पुण्य -पाप के विकल्प या संयोगी बाह्य चीज में कहीं भी मुझे साधन है, हितकर है, लाभकारक है, मेरा है, उसमें मैं हूँ, वे मेरे हैं – ऐसी मान्यता को **बहिरप्पा** (कहते हैं)। यह आत्मा

अन्तर में से उछलकर बाहर को अपना मानता है। समझ में आया? हैं? सब आ गया? मन्दिर और पूजा, यात्रा और यह सब विकल्प हैं, वे मेरे हैं (– ऐसा माननेवाला बहिरात्मा है)। ये हो भले परन्तु विभावरूप हेय है।

मुमुक्षु – सब रोज पूजा करते हैं।

उत्तर – कौन करता था? करता कब है? किया था अभी? अभी इसमें पूजा की या नहीं? आज थी न समवसरण की (पूजा)? आज जल्दी थी, सवा सात (होती है परन्तु) आज सात (बजे) थी। ऐसा कहते थे न? कोई कहता था? हो, उसके काल में भाव हो, परन्तु वह भाव अन्तर में स्वरूप की शान्ति को या स्वरूप की अखण्डता को वह भाव कुछ मदद करता है या स्वभाव को लाभ करता है – ऐसा नहीं है। फिर भी वह भाव व्यवहाररूप से आये बिना नहीं रहता है। अरे... अरे...!

जैसे आत्मा है, परिपूर्ण प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप अखण्डानन्द एक है, इसी प्रकार यह शरीरादि जड़ भी है या नहीं? मिट्टी आदि है, यह रजकण है या नहीं? ऐसे वस्तु एक रूप से प्रभु अन्तर शुद्ध चैतन्य का भान होने पर भी, जैसे दूसरी चीज कहीं चली नहीं जाती – ऐसे अन्दर में जब तक पूर्ण दशा प्राप्त न हो, तब तक ऐसा व्यवहार खड़ा होता है परन्तु वह पररूप से होता है, स्वरूप से गिनने के लिये नहीं होता। आहा...हा... चिमनभाई! बहुत कठिन बात है। ए.... मोहनभाई! क्या परन्तु? तब ऐसा कहोगे तो पूरे दिन कोई कुछ नहीं करेगा। कहाँ गये?

मुमुक्षु – उत्साह उड़ जाता है।

उत्तर – उत्साह उड़ जाता है! सत्य का तो सत्य स्वरूप है – ऐसा रखना चाहिए। सत् के कोई खण्ड करना चाहिए? सत्यवस्तु को वस्तुरूप से रखो, फेरफार मत करो। आहा...हा...! कहो, रतनलालजी! कैसा है? ऐसी कठोर बात (सुनेंगे तो) इन्दौरवाले सब चिल्ला उठेंगे।

यहाँ तो कहते हैं कि श्रावक का व्यवहार आचरण और साधु का व्यवहार आचरण, यह भी मुझे हितकर है – ऐसा माननेवाला बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है – ऐसा कहते हैं। क्योंकि यहाँ तो उदयभाव में राग लिया है न? समझ में आया? भगवान आत्मा.... फिर

वापस किये बिना रहे नहीं, कितने ही फिर ऐसा कहते हैं। भाई! तुम्हें पता नहीं है, बापू! वह भाव होता है, आता है। आत्मा का कर्तृत्व नहीं परन्तु कमजोरी के काल में वह भाव आता है, फिर भी हितकारी नहीं है। हितकारी नहीं है तो लाये किसलिए? लाता नहीं परन्तु आता है। आहा...हा...! आ...हा...! ए... बजुभाई!

बहिरप्पा जिणभणिउ, जिणभणिउ वीतराग परमेश्वर ने ऐसा कहा है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा पूर्ण दशा जहाँ प्रगट हुई, वाणी में इच्छा बिना यह बात ऐसे आयी है। आहा...हा...! ए... कान्तिभाई! यह अद्भुत बात, भाई! अन्य कितने ही कहते हैं, यह सोनगढ़ की (बात अटपटी है) परन्तु यह सोनगढ़ की है या किसी के घर की है यह?

मुमुक्षु – सोनगढ़ की हो तो क्या आपत्ति?

उत्तर – परन्तु यह सोनगढ़ का अर्थात ऐसा, ऐसा उसके मन में (होता है)। अकेला एकान्त... ऐसा! हमारा अनेकान्त है – ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि यह बाहर के विकल्प हैं, भाई! हो, परन्तु यह कोई आत्मा का कल्याण करनेवाले हैं और आत्मा का स्वरूप है – ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व है। मेरे स्वरूप में मैं हूँ और वे मेरे में नहीं हैं, इसका नाम अनेकान्त कहा जाता है परन्तु यह मैं शुद्ध भी हूँ और मलिनभाव भी हूँ – ऐसा अनेकान्त हो सकता है? समझ में आया? मैं निश्चयस्वरूप से शुद्ध अखण्ड आनन्द हूँ, वैसे व्यवहारस्वरूप से विकल्प और विभाव भी मैं हूँ – ऐसा कोई हो सकता है? समझ में आया? अद्भुत बात... परन्तु इसमें कभी अनन्त काल में यह बात लक्ष्य में नहीं ली है। आहा...हा...!

'सो बहिरप्पा जिणभणिउ' ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। 'पुण संसार भमेइ' बस! फिर से ऐसा का ऐसा परिभ्रमण करेगा। अनादि काल से ऐसे पर को अपना मानता आया है और पर को इसे छोड़ना नहीं, तो पर को छोड़ना नहीं अर्थात् पर में वह परिभ्रमण करेगा। **पुणु संसार भमेइ** देखो! बारम्बार.... ऐसे फिर **पुणु** का (अर्थ किया) **संसार में भ्रमण किया करता है।** ऐसा आत्मा अनादि काल से आत्मा की मूल चीज को जाने बिना, असली स्वभाव को जाने बिना, विकृतरूप को अपना स्वरूप मानकर (परिभ्रमण किया करता है)। कहो, समझ में आया?

एक मनुष्य होता है, नहीं वह रूप धारण करता ? सिर पर अमुक करे और ऐसा (करे)। मुसलमान बहुत करते हैं। सिर पर कपड़ा ओढ़ते हैं और कपड़ा बाँधते हैं और ऐसा करते हैं। वे तो मानते हैं कि मैं तो मनुष्य हूँ, मैं यह नहीं। हाथी जैसा रूप धारण करे ऐसे सिर पर सींग नहीं लगाते ? हैं ? हाथी का मुखौटा डालते हैं – ऐसा करते हैं। मैंने देखा था। एक बार वहाँ उपाश्रय के पास निकला था, उपाश्रय के पास निकला था। सब एक-एक बार को ठीक से देख लिया है, वह व्यक्ति निकला था और सिर पर हाथी का मुखौटा... यह देखो परन्तु वह मानता होगा कि मैं हाथी नहीं। हैं ? इसी प्रकार इस शरीर के मुखौटे के ऊपर लाल चमड़े के, यह वाणी धूल की और यह मानता है कि मेरी.... अब इसे करना क्या ? और उसमें पुण्य और पाप के भाव उत्पन्न हों, वह बारीक चमड़े के टुकड़े हैं, वे कोई आत्मा का स्वभाव नहीं है। विभाव... विभाव, विकार.... सदोष, उपाधि है, उसे अपना स्वरूप माने; विकृतरूप को अविकृत माने.... विकृतरूप कहा न ? हाथी को, मनुष्य था, उसे अपना माने ऐसे आत्मा में होनेवाली विकृतदशा, शुभाशुभभाव के सम्बन्ध और उसका फल, उसे अपना माननेवाला विकृत को ही अविकृत मानता है, वह विकृत को कैसे छोड़ेगा ? इसलिए विकृत में बारम्बार भ्रमण करेगा। लो, यह दशवीं गाथा हुई।

☆ ★ ☆

ज्ञानी पर को आत्मा नहीं मानता है

देहादिउ जे पर कहिय, ते अप्पाणु ण होहि।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ, अप्पा अप्प मुणेहि॥११॥

देहादिक जो पर कहे, सो निज रूप न मान।
ऐसा जान कर जीव तू, निज रूप हि निज जान॥

अन्वयार्थ – (देहादिउ जे पर कहिय) शरीर आदि जिनको आत्मा से भिन्न कहे गये हैं। **(ते अप्पाणु ण होहिं)** वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते व उन रूप आत्मा नहीं हो सकता अर्थात् आत्मा के नहीं हो सकते **(इउजाणेविणु)** ऐसा समझकर **(जीव)** हे

जीव! **(तुहुँ अप्पा अप्प मुणेहिं)** तू अपने को आत्मा पहचान, यथार्थ आत्मा का बोध कर।

☆ ★ ☆

ग्यारहवीं (गाथा)। **ज्ञानी को पर को आत्मा नहीं मानना चाहिए।** धर्मी सत्... सत्, सत्स्वरूप का स्वीकार, उसे असत् में अपनापन नहीं मानना चाहिए। असत् अर्थात् जो स्वरूप में नहीं – ऐसी जो परवस्तु आदि है, उसे अपनी नहीं मानना चाहिए। वह बहिरात्मा था, यह सुलटा लेते हैं।

देहादिउ जे पर कहिय, ते अप्पाणु ण होहि।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ, अप्पा अप्प मुणेहि॥११॥

अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अकेला माल भरा है। **शरीर आदि अपनी आत्मा से भिन्न कहे गये हैं....** ये सब बात की वह.... शुभ-अशुभभाव, आचरण, क्रिया, देह, वाणी, मन, कर्म, लक्ष्मी सब.... यह **भिन्न कहे गये हैं, वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते...** क्या कहते हैं कि **ते अप्पाणु ण होहिं।** भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु, उस विभाव, शरीर और विकल्परूप कहीं हो नहीं जाता। उनरूप नहीं हो जाता, वस्तु कहीं विकृत पर्याय से वस्तु उसरूप बन नहीं जाती। क्या कहा?

भगवान आत्मा चिदानन्द की मूर्ति अरूपी अखण्ड आनन्दकन्द चिदानन्द अनादि-अनन्त स्वयं वस्तु है, पदार्थ है। ये शरीरादि जो आत्मा से पृथक् कहे, विकल्पादि, रागादि, पुण्यादि, **वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते। ते अप्पाणु ण होहिं। वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते।** क्या कहते हैं? यह पुण्य-पाप का भाव, शरीर, वाणी, कर्म-यह आत्मारूप नहीं हो सकते। वे अनात्मारूप बाहर रहते हैं। समझ में आया? आहा...हा...! आत्मा को जो स्वभावस्वरूप उसमें है, उसमें वे आ नहीं जाते - ऐसा कहते हैं। **वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते।** क्या कहा? समझ में आया?

शुद्ध ज्ञान की मूर्ति चैतन्यसूर्य प्रभु, उसरूप ये पुण्य-पाप के भाव, शरीरादि उसरूप नहीं होते। चैतन्यसूर्य वस्तु वह, इन देहादि बाह्य क्रिया (रूप) आत्मा नहीं होती। आत्मा नहीं होती, माने वह मान्यता बहिरात्मा की है। वे नहीं होते। समझ में आया? एक राग का

कण और रजकण.... राग का, सूक्ष्म शुभराग का कण और रजकण.... राग कण और रजकण, वे आत्मा नहीं होते। क्या कहते हैं ? देखो!

वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते। भगवान ज्ञान ज्योति चैतन्य प्रभु, वह राग का विकल्प – दया, दान का हो या परमाणु का रजकण हो, वे परपदार्थ कहीं आत्मा हो सकते हैं ? राग विभाव, वह स्वभाव हो सकता है ? रजकण, वह जीव हो सकता है ? समझ में आया ? कहो, प्रवीणभाई! यह तो समझ में आवे ऐसा है या नहीं ? देखना पड़े लो, इसे भी वह.... परन्तु भगवान चैतन्यसूर्य है न अन्दर ? कहो!

स्फटिकरत्न है, स्फटिकरत्न। अब उसमें साथ में काला फूल, लाल फूल हो, वह काला-लाल फूल स्फटिकरूप हो जाता है ? और उसमें काला-लाल की थोड़ी झांई पड़ी हुई दिखती है, वह भी काली-लाल झांई स्फटिकरूप हो जाती है ? समझ में आया ? 'ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव रे.... श्री जिनवीर धर्म प्रकाशियो, प्रबल कषाय अभाव रे.... ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की।' जैसे, स्फटिक निर्मल पिण्ड है, वैसे ही भगवान आत्मा निर्मल आनन्द और ज्ञान का कन्द आत्मा है। समझ में आया ? उसमें साथ में लाल-काला फूल हो तो वह लाल-काला फूल कहीं स्फटिकरूप हो जाता होगा ? और उसमें जरा काली-लाल झांईं पड़ी, वह स्फटिकरूप होती है ? वह स्फटिकरूप धारण करती है ? काला-लाल वह कोई स्फटिकरूप धारण करता है ?

इसी प्रकार भगवान आत्मा से बाह्य पदार्थ, वे आत्मा नहीं हो सकते। वे पुण्य-पाप के विकल्प और शरीरादि.... स्फटिक जैसा भगवान आत्मा, उसरूप नहीं हो सकते। कौन ? वे विभाव, शरीर और वाणी... आहा...हा...! **उनरूप आत्मा नहीं हो सकता।** उनरूप आत्मा नहीं हो सकता। असर-परस डाला है। क्या कहा ? वे **अप्पाणु ण होहि** डाला है न ? अर्थात् वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते और उनरूप आत्मा नहीं हो सकता... अरस-परस। आहा...हा...! क्या कहा ? भाई! यह तो अकेली भेदज्ञान की बात है। समझ में आया ? यह तो मक्खन निकालकर यह अकेला रखा है।

भगवान आत्मा....! यह देहादि रजकण तो मिट्टी है, वाणी मिट्टी है, अन्दर शुभ-अशुभराग (होता है), वह शुभ-अशुभराग, आत्मा हो सकता है ? और आत्मा उसरूप

हो सकता है ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा...हा... ! परभाव में मोहित रे आत्मा... भूला रे भगवान को अन्दर में.... स्वयं भगवान को भूला है। सच्चिदानन्द चिदानन्द ज्ञाता -दृष्टा आनन्द का कन्द प्रभु, कहते हैं कि वह आत्मा क्या विभावरूप होता है ? वह आत्मा क्या शरीररूप होता है ? वह आत्मा वाणी में आये या (वाणीरूप) होता है ? आवे तो होवे न ! और विभाव के विकल्प में आत्मा आवे कि आत्मा विभावरूप हो ? आता है उसमें ? शुभभाव – दया, दान के विकल्प में वह आत्मा आता है ? आत्मा आवे तो आत्मा उसरूप हो जाये। आत्मा उसमें आता ही नहीं, वे तो बाह्य चीज हैं। विभाव, वह स्वभाव नहीं होता; स्वभाव, वह विभाव नहीं होता। यहाँ तो दोनों ऐसी अरस-परस बात ली है न, समझ में आया ?

ते अप्पाणु ण होहि जो शरीरादि कहे, उदयभाव कहा वह.... यह पंचाचार – ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, तपाचार.... ऐसे जो आठ के विकल्प, आठ (गुणे) पाँच, चालीस... जिसे यह आठ होवें वह, समकित के आठ आचार आते हैं न ? निःशंक और निःकांक्षित और व्यवहार के, हाँ ! और ज्ञानाचार के (विकल्प) – काल में पढ़ना और विनय से पढ़ना और.... आहा...हा... ! दूसरे तो कहते हैं कि शास्त्र की स्वाध्याय, करे तो (निर्जरा होती है) - ऐसा कल आया था। अरे... ! सुन न, भगवान ! तुझे पता नहीं है... बापू ! बापू !! यह तो विकल्प उत्पन्न होता है, भाई ! तब उसका पर के प्रति लक्ष्य है। उस विकल्परूप प्रभु होता है ? और विकल्प इसरूप होता है ? यह विकल्प का रूप, स्वरूप धारण करता है ? और यह स्वरूप, विकल्परूप आ जाता है ? आहा...हा... ! कहो, इसमें समझ में आया या नहीं ? ए... मलूकचन्दभाई ! क्या करना परन्तु अब इसमें ? होश उड़ जाएगा। मन्दिर बनाना है और उत्साह उड़ जाएगा।

हम कर सकते हैं – ऐसा माने तो उत्साह रहे ! कहो, वासुदेवभाई ! क्या करना अब इसमें ? आहा...हा... ! अरे प्रभु ! तू कहाँ है ? देख तो सही। तू जहाँ है, वहाँ विकार नहीं और विकार जहाँ है, वहाँ तू नहीं। भाई ! न्याय से तो समझना पड़ेगा।

विकार, जो पुण्य-पाप के विकल्पों का विकार, विभाव दशा (होती है), वहाँ भगवान चिदानन्द का स्वभाव उसमें नहीं है और वह विभाव, स्वभावरूप तीन काल में

नहीं होता। आहा...हा... ! कहो, इसमें समझ में आता है या नहीं ? ए... जीतू ! क्या कहा ? कहाँ गया तेरा.... बोलो !

मुमुक्षु – विभाव, स्वभावरूप नहीं होता।

उत्तर – अर्थात् ? स्वभाव अर्थात् क्या ? विभाव अर्थात् क्या ? तेरे से वह दे ? देखो ! उसे जहाँ-तहाँ बड़ा ठहराते हैं। फिर क्या कहा ?

भगवान स्फटिकरत्न जैसा चैतन्य निर्मलानन्द प्रभु, वह पुण्य-पाप के मलिनभाव और शरीरादि अजीवभाव; पुण्य-पाप के आस्रवभाव – कर्म, शरीर, अजीवभाव – वह अजीवभाव, आस्रवभाव, वह स्वभावभाव – आत्मारूप नहीं होते और भगवान आत्मा चैतन्य गोला ध्रुव अनादि अनन्त सत्व आनन्दकन्द, वह स्वयं विभावरूप अर्थात् आस्रवरूप या अजीवरूप नहीं होता। आहा...हा... ! समझ में आया ?

तीनों तत्त्व निराले हैं या नहीं ? अजीव, आस्रव और आत्मा। चलो ! ए... धीरुभाई ! अजीव – कर्म, शरीर, वाणी सब धूल अजीव और अन्दर शुभ-अशुभभाव उठें, वह आस्रव.... आस्रव अर्थात् नये आवरण का कारण... मलिनभाव। आ-स्रवना, उसमें आत्मा नहीं आता। वह तो कृत्रिम मलिनभाव है। अत: कहते हैं कि उस आस्रवभाव - दया, दान, व्रत के परिणामों में आत्मा नहीं आता और वह आस्रवभाव आत्मारूप नहीं होता। आत्मारूप हुए बिना वह लाभ कैसे कर सकता है ? कहो, इसमें कुछ समझ में आया ?

देहादिउ जे पर कहिया शब्द तो वह का वही है, उसमें (दशवीं गाथा में) था वह, वह का वही है **ते अप्पाणु ण होहिं** उसमें **ते अप्पाणु मुणेइ** था। यह **अप्पाणु ण होहिं** (है)। बस ! इतना (अन्तर है)। **इउ जाणेविणु जीव तुहुं अप्पा अप्प मुणेहिं॥** ऐसा जानकर, **ऐसा समझकर....** ऐसा समझकर.... ऐसा ही जहाँ स्वरूप है, ज्ञानसूर्य प्रभु कभी विकल्प के विभावरूप हुआ नहीं, कभी अजीवरूप होता नहीं; वे विकार के भाव और अजीव के भाव, स्वभावरूप – चैतन्यरूप नहीं होते – ऐसा जानकर... कहो, समझ में आया ?

इउ जाणेविणु, ऐसा समझकर.... क्या समझकर ? देखो ! भिन्न कर दिया। भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, उस विकल्प के विभाव में नहीं आता और वह विभाव,

स्वभावरूप कभी परिणमता और होता नहीं है। जड़, रजकण, कर्म-शरीर वे कहीं आत्मा में (नहीं) आते, आत्मारूप नहीं होते। भगवान आत्मा का रूप, रजकण – कर्मरूप या शरीररूप नहीं होता। ऐसा समझकर.... ऐसा सत्य है, वैसा समझकर, ऐसा। इस प्रकार ही वस्तु है, ऐसा समझकर... यह समझकर (कहा) वह नयी समझ की पर्याय हुई। पर्याय अर्थात् अवस्था, नयी अवस्था हुई। यह भगवान, उस विकाररूप नहीं होता। विकार, वह स्वभावरूप नहीं होता, दोनों के बीच का भेदज्ञान होकर, समझकर, **हे जीव! तुहुं अप्पा अप्प मुणेहि। तू अपने को आत्मा जान**.... देखो! यह फिर ऐसे अन्दर में लाये।

भगवान चैतन्य सूर्य प्रभु, जो विभावरूप नहीं होता, विभाव, स्वभावरूप नहीं होता – ऐसा जानकर तू आत्मा की तरफ देख। **तू अपने को आत्मा जान, यथार्थ आत्मा का बोध कर....** स्वरूप, शुद्ध स्वरूप भगवान की ओर का झुकाव करके देख कि यह आत्मा, यह आत्मा अकेला ज्ञान का सागर आनन्द की मूर्ति वह आत्मा है। इस प्रकार दो के बीच की समझ करके आत्मा को जान – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? इस प्रकार दो बात की। फिर ऐसे झुक (ऐसा कहा है)।

हे जीव! 'तुहुं अप्पा अप्प मुणेहि' तू अपने को आत्मा जान.... ज्ञानानन्द को ज्ञानानन्द जान। शुद्ध भगवान आत्मा को तू आत्मा जान। वह तो ऐसे (अन्दर) झुक गया। राग को पररूप जाना, स्वभाव स्वभाव है – ऐसा जाना। यह जानकर ज्ञान, स्वभाव में झुका। यह आत्मा है, वह मैं, ऐसा जान! उसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, स्वरूपाचरण दशा कहते हैं। लो, फिर तीनों आ गये। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, स्वरूपाचरण। अद्भुत सूक्ष्म बातें... आहा...हा...! अन्यत्र जाये तो सब बात समझ में आये – ऐसी लगती है और यह (सुने तो ऐसा लगता है कि यह) क्या कहते हैं? यही सत्य है, अन्य तो उल्टा घोटाला है। पर की दया पालो – ऐसा कहनेवाले, अपने अतिरिक्त पर के काम कर सकता हूँ, उसका अर्थ कि मुझसे वह जीव पृथक् नहीं है, अर्थात् वह और मैं दोनों एक हैं; इसलिए मैं वहाँ काम कर सकता हूँ, इसलिए उसे और आत्मा को दोनों को एक माना है। समझ में आया? वह पृथक् और मैं पृथक्.... उसकी दया कौन पाले? उसकी अवस्था को कौन करे? जो

पृथक् दशा है, जो पृथक् पदार्थ है, उस पृथक् का पृथक् काम करे; पृथक् का आत्मा कैसे उसका काम करे ? समझ में आया ?

इस शरीर का, कर्म का, देश का, परिवार का..... यह परवस्तु है या तू है ? तो पर है तो पर का काम तू कर सकता है ? पर का काम करे तो इसका अर्थ यह कि तू वहाँ एकमेक हो गया। करनेवाला कार्य में मिल गया, करनेवाला कार्य में मिल गया, अपने सत्व का नाश करके पररूप हो गया – ऐसा तूने माना है। ए.... धीरुभाई ! हैं ? यह संचा -वंचा बड़े कौन करता होगा वहाँ ? वह छोटेभाई कहते हैं, यह इन्हें पूछो, इसका कैसे करना है ? ऐसा। बुद्धिवाले को पूछते हैं या नहीं ? ए... चिमनभाई ! अद्भुत बात, भाई ! दूसरे कहें, तब पूछना किसलिए ? एई... !

मुमुक्षु – दो भाईयों के बीच विवाद होवे तो बड़ा भाई ऐसा ही कहता है कि मैंने किया है ? तू कहाँ था ?

उत्तर – तू कहाँ था अभी का ? रखना है न ! बड़ा हिस्सा लेना है न उसमें से। यहाँ बहुत ऐसे आये हैं, हाँ ! हमारे पास। परन्तु कुछ किया नहीं, तू व्यर्थ का किसलिए लगा है ? कहा। बड़ा कमाता हो, पचास-पचपन हो गये हों, अब कहे कि छोटे भाई हों, समान भाग करो... परन्तु भाईसाहब ! इन तीस वर्षों से मैं पिल रहा हूँ उसमें दो-चार लाख इकट्ठे हुए.... तू कहता है कि बराबर तीन भाग करो, परन्तु तीन करो तो अब मुझे क्या करना ? वे कहे कि कहाँ हम अभी तक अलग हुए हैं ? तीनों साथ हैं, समान भाग करो... परन्तु भाई साहब ! तुम तो अब कमाने को तैयार हुए हो और मेरी कमर झुक गयी है... तीन भाग दो, उसमें दूसरा कुछ चले ऐसा नहीं अब। ए.... सेठ ! ऐसा होता है। ए... धीरुभाई ! हमारे पास तो बहुत दृष्टान्त सहित है, हाँ ! आहा...हा... ! अरे... ! कुछ किया नहीं – ऐसा यहाँ कहते हैं। ए... मोहनभाई ! तुम्हारे अकेला लड़का है। इसलिए क्या (होगा) ?

यहाँ तो कहते हैं कि तू तीनों काल अकेला ही है – ऐसा कहते हैं। '**अप्पाणु मुणेइ**', '**अप्पाणु मुणेइ**' आत्मा, वह क्या करे ? आत्मा **मुणेइ** आत्मा क्या करे ? राग को करे ? पर को करे ? पर इससे पृथक् है, वह पृथक्, पृथक् का करे तो दो एक हो जाते हैं।

समझ में आया ? आहा...हा... ! कैसे होगा, चिमनभाई ! हैं ? तुम तो बाहर में बहुत होशियार कहलाते हो। कहो, समझ में आया ?

ऐसा समझकर हे जीव तू अपने को आत्मा जान.... बहुत संक्षिप्त में स्वयं कहा है न ? जीव को सम्बोधन के लिये कहता हूँ अथवा स्वयं को सम्बोधन (के लिए कहता हूँ), अन्त में ऐसा कहेंगे। मैंने भी मेरे आत्मा के लिये, यह उसके घोलन के लिये यह शास्त्र बना है, मैं तो मेरा घोलन करता हूँ – ऐसा कहते हैं। अन्तिम गाथा में आता है न ? **यथार्थ आत्मा का ज्ञान कर।** लो ! ग्यारह (गाथा पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता है

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि, तो णिव्वाणु लहेहि।
पर अप्पा जइ मुणहि तुहुँ, तो संसारु भमेहि॥१२॥

निज को निज का रूप जो, जाने सो शिव होय।
माने पर रूप आत्म का, तो भव भ्रमण न खोय॥

अन्वयार्थ – **(जइ)** यदि **(अप्पा अप्पउ मुणहि)** आत्मा को आत्मा समझेगा। **(तो णिव्वाण लहेहि)** तो निर्वाण को पावेगा **(जउ)** यदि **(पर अप्पा मुणहि)** परपदार्थों को आत्मा मानेगा **(तो तुहुँ संसार भमेहि)** तो तू संसार में भ्रमण करेगा।

☆ ★ ☆

१२, **आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता है।** बारहवीं (गाथा) आत्मा के भानवाले को मुक्ति होती है। आत्मा के भान बिना संसार में भटकना होता है, इसमें दोनों बातें हैं।

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि, तो णिव्वाणु लहेहि।
पर अप्पा जइ मुणहि तुहुँ, तो संसारु भमेहि॥१२॥

यदि आत्मा, आत्मा को समझेगा.... अर्थात् भगवान आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द का पिण्ड प्रभु ज्ञातादृष्टा, वही मेरा स्वरूप और वह मैं आत्मा – ऐसे आत्मा को अपने शुद्ध

स्वभाववाला समझेगा.... भगवान आत्मा वह स्वयं शुद्ध ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि शुद्ध स्वभाववाला शुद्धस्वरूप आत्मा है – ऐसा जो समझेगा **तो निर्वाण प्राप्त करेगा।** तो उसमें एकाकार होकर, जिसने आत्मा जाना, उसमें दृष्टि लगाकर एकाकार होकर पूर्णानन्दरूपी निर्वाण अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करेगा। समझ में आया? बहुत संक्षिप्त।

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि 'जइ मुणहि' ऐसा है न? **जो आत्मा, आत्मा को समझेगा....** यदि तू भगवान आत्मा को आत्मारूप से ज्ञानानन्द चैतन्यसूर्यरूप से अन्दर भगवान को देख, यदि तू जाने, समझे तो उस पृथक् तत्त्व को पृथक् जानने से अल्प काल में अत्यन्त मुक्त निर्वाण पद को प्राप्त करेगा। समझ में आया? उसी-उसी में घोलन करते हुए निर्वाण को प्राप्त करेगा – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कि भाई! आत्मा तो जाना, लो! तो निर्वाण पायेगा। बीच में फिर क्या करने का है? कि यह आत्मा चैतन्य ज्योत ज्ञायकमूर्ति है – ऐसा जाना, यह उसी-उसी में जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... रह गया। वह स्थिर होने पर वीतरागता को पायेगा। उसमें बीच में व्यवहार आयेगा, उसकी बात ही नहीं की, भाई! आहा...हा...! अस्ति से ही बात ली है न!

भगवान आत्मा, विकल्प – पुण्य-पाप के विभावरहित चीज है – ऐसी चीज को **अप्पउ** आत्मा ने आत्मा को जाना। आहा...हा...! बस! उसमें यह जाना, यह मैं... यह मैं... यह मैं... ऐसी जो दृष्टि और स्थिरता (हुई), वह निर्वाण को पायेगा। इस आत्मा का साधन होकर, आत्मा का साधन आत्मा ही करके, आत्मा का साधन आत्मा द्वारा करके आत्मा निर्वाण अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करेगा। कहो, समझ में आया? कुछ सूक्ष्म पड़े तो थोड़ा विचार करना, थोड़ा तो धीरे-धीरे कहते हैं, कहीं एकदम नहीं कहते। तुम प्रोफेसर तो सब एकदम (बोलते हो)। ए.... रतिभाई! धीरे-धीरे तो कहते हैं, उसमें थोड़ा विचार करने का अवकाश (रहता है)। आहा...हा...!

ऐसा चैतन्य प्रभु, चैतन्य प्रकाश की मूर्ति... इस प्रकाश का प्रकाशक, राग का प्रकाशक, जड़ का प्रकाशक.... राग का आत्मा नहीं, जड़ का आत्मा नहीं, जड़ और राग का प्रकाशक और अपने स्वरूप का भी प्रकाशक। समझ में आया? ऐसा प्रकाशकस्वरूप

भगवान आत्मा को ऐसा जाना कि यह तो प्रकाश का पुंज ही प्रभु स्व-पर को प्रकाशित करे, वह चीज है। पर को अपना माने, वह चीज इसमें है ही नहीं। समझ में आया ? और वह पर को प्रकाशित करता है, वह पर है, इसलिए प्रकाशित करता है – ऐसा भी नहीं है। वह स्वयं का प्रकाशक स्वभाव स्व और पर को प्रकाश की सत्ता की अस्ति से स्व और पर को प्रकाशित करता है। पर की अस्ति के कारण पर को प्रकाशित करता है – ऐसा नहीं है। समझ में आया इसमें ? ऐ... ई.... आहा...हा... !

कहते हैं कि धैर्यवान तो हो, भाई ! बापू ! तेरा घर तूने कभी देखा नहीं, परघर में भटका, जहाँ-तहाँ। पर घर में भटका। यह किया और वह किया, शुभ-अशुभविकल्प उठे, विकार किया वह सब पर घर है, स्वघर को देखा नहीं, कहीं आया अवश्य था। अभी भजन आया था, उसमें आया था – वीरवाणी... वीरवाणी... वीरवाणी... में आया था न ? उसमें मुखपृष्ठ पर एक वाक्य था – पर घर का, हाँ ! ऐसा था। कहा, अब सब बोलने लगे हैं। स्वघर.... लोग भी कहते हैं, हाँ ! समझ में आया ? अब हमारे घर बनाना है, अब कब तक (ऐसा रहना) ? घर बनाना हो तो ऐसे का ऐसे नहीं चलेगा। समझ में आया ? ऐसा यहाँ कहते हैं, बापू ! तेरा घर तुझे बनाना है या नहीं ? यह राग और विकल्परहित प्रभु में तू दृष्टि दे तो यह तेरा घर बना – एकाग्र हुआ और उसमें से क्रम-क्रम से ज्ञान पक्का घर हो जायेगा मोक्ष.... मोक्ष... मोक्ष...।

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि। अब गुलांट खाता है। **पर अप्पा जउ मुणिहि** अब ऐसा कहते हैं। परन्तु **पर पदार्थ को आत्मा मानेगा....** परन्तु आत्मा के अतिरिक्त विभाव, विकल्प और शरीर, कर्म, उदयभाव और उदय-विकार आदि अशुद्ध मलिनभाव जो जिसकी चीज में नहीं है, क्षणिक विकारीभाव नित्य-चीज नहीं है – ऐसे **परपदार्थ को आत्मा मानेगा....** उसे जो आत्मा मानेगा कि यह भी मैं इस अस्तित्व में भी मैं, इस राग और विकल्प के अस्तित्व में मैं, उससे छूटेगा नहीं अर्थात् वह संसार में भटकेगा। अद्भुत संक्षिप्त, भाई ! बहुत माल निकाला है न, प्रभु !

पर अप्पा जउ मुणिहि देखो न, उसमें भी। **जइ मुणिहि** ऐसा यदि आत्मा को आत्मा जाने तब तो मुक्ति (पायेगा)। आत्मा को पर जाने, आत्मा आत्मारूप से अस्तिपने

ज्ञानानन्द शुद्ध अस्तिपने जाना तो अस्तिपने अकेला निर्मलानन्द मुक्ति में रह गया। आत्मा परपने जाने **पर अप्पा जउ मुणिहि** (पर) पदार्थ को आत्मा मानेगा। **तहु तहुं संसार भमेहि।** तो तू जिसे निज मानता है, वह चीज संसार है। विकार, पर वह संसार है, उसे अपना मानकर उसी-उसी में रहेगा और संसार में रहेगा। समझ में आया? आरे.... ! ऐसी बात कठिन पड़ती है। ऐसी (बात) पहले सुनी थी? अब इन ने रस लिया, यहाँ उसमें लड़के बैठे.... कहा ठीक किया यह। समझ में आया? ए... वासुदेवभाई! देखो, यह बात करते हैं। देखो, यह।

पर अप्पा जउ मुणिहि तहु तहुं। तो तू। **संसार भमेहि** यदि विकार को, शरीर को कर्म को – जो स्वरूप में नहीं है उन्हें, उनके अस्तित्व में तेरा अस्तित्व माना, बस! वह छूटेगा नहीं अर्थात् उसमें भटकेगा। इसका नाम संसार, इसका नाम संसार समझ में आया? मुक्ति और संसार दोनों की बात एक गाथा में समाहित कर दी है।

(श्रोता – प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मुनिराज को शरीर मुरदे के समान

अहो! यह तो परम उदासीन दशा की बात है। जैसे कछुआ भयभीत होने पर अपने पैरों और मुख को पेट में सिकोड़ लेता है, वैसे ही मुनिदशा इन्द्रियों से सङ्कुचित होकर स्वभाव में ढल जाती है। मुनिराज अपने स्वभाव में गुप्त हो जाते हैं। उनके शरीर के रजकण मुरदे जैसा काम करते हैं, क्योंकि उनके प्रति मुनिराज का स्वामित्व उड़ गया है। ऐसे सन्तों को शरीर की रक्षा करने का या उसे ढाँकने का भाव नहीं रहता। अहो! जब आत्मा की ऐसी दशा प्रगट हो, वह धन्य पल है! धन्य काल है!! धन्य भाव है!!!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी